P: ISSN NO.: 2321-290X RNI : UPBIL/2013/55327 VOL-6* ISSUE-6* February (Part2) * 2019
E: ISSN NO.: 2349-980X **Shrinkhla Ek Shodhparak Vaicharik Patrika**

भारतीय जाति व्यवस्था पर नाथ सम्प्रदाय का प्रभाव : विश्लेषणात्मक अध्ययन

तेजकरण मीना
शोधार्थी,
इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर, राजस्थान, भारत

सारांश

भारत में जाति–व्यवस्था का उदय और विकास कई कारणों से हुआ जैसे– व्यवसाय, श्रम विभाजन, जनजातियों एवं विदेशी जातियों का आत्मसातीकरण आदि।

इस जाति–प्रथा की कतिपय विशेषताएँ है जैसे– प्रत्येक जाति के अपने नियम और पंचायत, जाति का जन्मगत होना, ऊँच–नीच की भावना, भोजन–विवाह संबंधी निषेध तथा परम्परागत व्यवसाय आदि। कालान्तर में इस जाति–व्यवस्था में ऊँच–नीच की भावना आ गई और कुछ जातियों को निम्न तथा अपवित्र समझा जाने लगा और उन्हें अस्पृश्य घोषित कर दिया। परन्तु पूर्व–मध्य काल में उदित नाथ सिद्ध योगियों ने इस अवधारणा को नकार दिया और उन्होंने बिना किसी जाति–वर्ण के भेद के मानव समता पर जोर दिया। इस से आकर्षित होकर बहुत से लोग इनके अनुयायी बने गये और धीरे–धीरे एक नई सम्प्रदायगत जाति के रूप में संगठित हो गये, जिसे नाथ या योगी जाति कहा जाता है।

मुख्य शब्द : नाथ, नाथ–सम्प्रदाय, जाति, वर्ण, अस्पृश्यता, अपवित्रता, अतिवर्णाश्रमी, पंचमाश्रमी, योगी (जोगी), समता–भाव।

प्रस्तावना

प्राचीन भारत की सामाजिक संरचना और उसके इतिहास पर अभी तक कोई स्पष्ट एवं पूर्णरूप से पुस्तक देखने में नहीं आई। किन्तु इस विषय से जुड़े हुए विभिन्न पहलुओं, विशेष रूप से जाति–प्रथा पर अनेक पुस्तकें मिलती हैं। एक लेखक ने जाति विषय पर 5,000 पुस्तकों की सूची प्रकाशित की है। लेकिन समाज संबंधी विपुल साहित्य की रचना में इतिहासकारों का योगदान बहुत कम है। इसके रचयिता प्रायः वैज्ञानिक, समाजशास्त्री, सांख्यिकीविद्, अर्थशास्त्री, मिशनरी तथा विभिन्न जातीय संगठन रहे हैं।

शोध–पत्र के उद्देश्य

प्रस्तुत शोध पत्र में यह जानने का प्रयास किया जायेगा कि भारतीय जाति व्यवस्था पर नाथ सम्प्रदाय का क्या प्रभाव पड़ा।

शोध विधि

इस शोध–पत्र को लिखने में मैंने मुख्यतः द्वितीयक स्त्रोतों का उपयोग किया है।

शोध–पत्र का महत्त्व

इस शोध–पत्र से पाठकों एवं शोधार्थियों को भारतीय जाति–व्यवस्था के उदय एवं विकास तथा उस पर नाथ सम्प्रदाय के प्रभाव की जानकारी प्राप्त होगी और उनको भारतीय समाज में नाथ योगियों के योगदान का पता चलेगा।

विषय विस्तार

प्रारंभिक भारत में सामाजिक स्तरीकरण की प्रक्रिया को समझने के लिए वर्ण और जाति के स्वरूप को समझना आवश्यक है। वर्ण और जाति मूलतः एक प्रकार के होते है। यह स्पष्ट है कि यद्यपि 'वर्ण' का अर्थ रंग होता है और जाति का अर्थ जन्म होता है। इसलिए 'जाति' का निर्धारण जन्म से होता है, कर्म से नहीं, यहीं बात 'वर्ण' के निर्धारण में लागू नहीं होती है।

''जाति'' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के ''जन'' धातु से मानी जाती है जिसका अर्थ, जन्म, प्रजाति एवं भेद से लिया जा सकता है। अंग्रेजी में जाति शब्द के लिए ''कास्ट'' शब्द का इस्तेमाल किया जाता है। यद्यपि यह कास्ट शब्द पुर्तगाली शब्द ''कास्टा'' से बना है जिसका अर्थ नस्ल, प्रजाति एवं जन्म है। इसके साथ ही 'कास्ट' को लैटिन शब्द ''कास्टस'' से भी व्युत्पन्न हुआ बताया जाता है। वस्तुतः इसका संबंध प्रजातीय अथवा जन्मगत आधार पर स्थित व्यवस्था से माना जा सकता है।

जाति–प्रथा की शुरूआत के लिए बहुत से सिद्धान्त एवं सफाईयाँ दी जाती है। कहा जाता है कि अपनी प्राकृतिक प्रवृत्ति और प्रतिभा के अनुरूप संपूर्ण मानव समाज चार वर्णों में विभक्त है। कुछ लोगों में उत्तम आध्यात्मिक तथा बौद्धिक प्रतिभाएँ है, कुछ लोग युद्ध करने की क्षमता रखते है, कुछ अन्य उत्पादन कार्य के योग्य हैं और तद्नुसार वे विभिन्न श्रेणियों में रखे गए हैं।

दूसरे सिद्धान्त के अनुसार जाति–प्रथा पवित्रता और अपवित्रता के भावों पर आधारित है। जैसे ब्राह्मणों में पहली कोटि की पवित्रता पाई जाति है, क्षत्रियों में दूसरी कोटि की इत्यादि।

तीसरे सिद्धान्त के द्वारा भारत के आदिम जनजातीय समुदायों से प्राप्त परंपरा के रूप में जाति के उद्भव की व्याख्या की जाती है। इसके अनुसार प्रत्येक जनजाति बहुसंख्यक कुलों में विभक्त है, और किसी कुल के सदस्य अपनी जनजाति के अन्दर, लेकिन कुल के बाहर वैवाहिक संबंध कर सकते थे। इसलिए निचले वर्णों का उच्च वर्णों के साथ सामाजिक संपर्क अपने आप रूक जाता है।

चौथे सिद्धान्त के अनुसार जाति–प्रथा की शुरूआत श्रम–विभाजन के आधार पर हुई। कहा जाता है कि उत्पादन बढ़ाने और आर्थिक प्रगति के लिए पेशे के अनुसार श्रम विभाजन की आवश्यकता हुई जिससे जातियों का जन्म हुआ।

यदि वर्ण या जाति को हम सामाजिक विभेदीकरण का रूप मानकर चलें तो जाति–प्रथा के उद्भव और विकास को अपेक्षाकृत अच्छी तरह समझा जा सकता है। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि सामाजिक संघर्षों के कारण और साधन एवं उत्पादन के असमान वितरण से समाज में वर्गभेद पैदा होता है। इसलिए जब तक भौतिक जीवन में हुए परिवर्तनों से सामाजिक प्रक्रिया के घने संबंध का अध्ययन नहीं किया जाए तब तक जाति के उद्भव एवं विकास को नहीं समझा जा सकता है।

प्राचीन भारतीय समाज के क्रमिक विकास और वर्ग–विभेदीकरण के प्रमुख चरणों का उल्लेख किया जा सकता है। ऋग्वेद के सार अंश में प्रतिबिंबित सामाजिक संघटन कबीलाई, अर्द्धखानाबदोश एवं पशुचारी था। ऋग्वैदिक काल 1500–1000 ई.पू. में वर्ण व्यवस्था का उल्लेख ऋग्वेद के 10वें मण्डल में मिलता है। जहाँ परवर्तीकालीन पुरूष सूक्त (गण 90) के आधार पर ऋग्वैदिक काल के आरंभ से ही ब्राह्मण, राजन्य (क्षत्रिय), वैश्य एवं शुद्र रूपी चातुर्वण्य समाज की कल्पना भी की गई। इस सूक्त में इन चारों वर्णों की उत्पत्ति आदि पुरूष के भिन्न–भिन्न अंगों से बतलाई गई है। इस काल में व्यक्तियों का वर्ण जन्म के आधार पर न होकर कर्म के आधार पर था। किन्तु परवर्ती वैदिक काल में वर्ग–परक समाज और राज्य–संरचना की ओर सामाजिक संक्रमण का प्रारंभ हुआ। परिणामस्वरूप वर्ण व्यवस्था जटिल होती चली गई, अब वर्ण कर्म के आधार पर न होकर जन्म के आधार पर माना जाने लगा तथा हिन्दू समाज अनेक समूहों में विभक्त हो गया और यह जाति–व्यवस्था के स्वरूप में परिवर्तित हो गया। लेकिन वस्तुतः वैदिकोत्तर काल में वर्ण विभाजित और राज्याधारित समाज एवं जाति व्यवस्था लोहे की फाल से हो रही खेती और बढ़ती उपज के कारण दृढ़ता से प्रतिष्ठित हो सका और इसके अतिरिक्त इन जातियों का रहन–सहन, स्तर, व्यवहार और आचरण में सम्यक अन्तर तथा इन संस्थाओं में अनेकानेक निषेध, प्रतिबंध, कठोरता और जटिलताएँ विद्यमान रही किन्तु फिर भी इस संस्थाओं का तारतम्य और सौष्ठव बराबर बन रहा है। यद्यपि इसके विकसित होने में सैकड़ों वर्ष लगे है, तथापि समय–समय पर होने वाले परिवर्तन, प्रादेशिक उलट–फेर, विदेशी–आक्रमण, विभिन्न व्यवसायिक गतिविधियाँ, पारस्परिक अन्तरताएँ, वर्ण–विरू, विवाह आदि अनेक तत्वों ने इसके विस्तार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

इस प्रकार मध्ययुग के पूर्वार्द्ध में ही सामाजिक विघटन और विभाजन के फलस्वरूप जातियों और उपजातियों की संख्या बढ़ रही थी। जन्म, स्थान, व्यवसाय, सम्प्रदाय, प्रथा आदि के आधार पर नई–नई जातियाँ बनने लगी तथा वर्णों में भी भेदा–भेद बढ़ने लगा। संकर वर्णों के काल्पनिक सिद्धान्त ने नई जातियों के निर्माण में बहुत योग प्रदान किया। इसी प्रकार अपवित्रता के सिद्धान्त तथा भोजन, विवाह और सम्पर्क के निषेधों ने समाज में अस्पृश्यता की भावना बढ़ाई, जिससे भारतीय समाज में कई अंत्यंज और अस्पृश्य जातियों का उदय हुआ। धीरे–धीरे यह अस्पृश्यता की भावना बढ़ती गयी और इसने कट्टर रूप धारण कर लिया।

भारतीय समाज के अन्तर्गत निवास करने वाली विभिन्न जातियों की अपनी कतिपय विशेषताएँ हैं, इन जातियों का विकास विभिन्न जाति–समूहों के रूप में जन्म के आधार पर हुआ, जिसका अपना स्वंत्रत विकासशील जीवन, भिन्न–भिन्न मान्यताएँ और अपनी पृथक् संस्कृति थी। अतः जाति–प्रथा की निम्नलिखित कुछ विशेषताएँ है–

1. प्रत्येक जाति के अपने कुछ नियम है उनका संबंध पारिवारिक नियमों के उल्लंघन से है। जाति का अपना मुखिया तथा पंचायत भी होती है।
2. व्यक्ति किस जाति का है वह उसके जन्म से ही निर्धारित हो जाती है।
3. समाज के अन्दर ऊँच–नीच के क्रम से प्रत्येक जाति पूर्ण निश्चित है।
4. सभी जाति के लोग समाज के कुछ सीमित क्षेत्र में खान–पान का संबंध रखते है।
5. प्रत्येक जाति के लोग अधिकांशतया अपनी ही जाति में वैवाहिक संबंध करते है।
6. साधारणतया प्रत्येक जाति के लोग कुछ परंपरागत व्यवसायों को ही करते है।
7. जाति की सम्पूर्ण प्रतिष्ठा उच्च जाति जैसे ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा पर निर्भर करती है।

ये सभी विशेषताएँ सब जातियों में एक समान रूप से नहीं मिलती। जैसे कि अधिकतर ब्राह्मणों और क्षत्रिय जातियों में पंचायत और मुखिया नहीं पाये जाते।

मध्ययुग के पूर्वार्द्ध में ही वर्ण–व्यवस्था की तरह ही आश्रम व्यवस्था ने भी अपनी कठोरता के कारण जातियों की संख्या बढ़ाई। इसी समय पूर्व–मध्यकाल में एक नये मत ''नाथमत या गोरक्षमत'' का प्रचार–प्रसार हुआ। इस मत को मानने वाले ''योगी'', ''सिद्ध'' आदि

कहलाते थे। ये योगी, सिद्धों आदि ने वर्णाश्रम व्यवस्था को अस्वीकार करके स्वयं को ''अतिवर्णाश्रमी'' कहते थे। अर्थात् संन्यासाश्रम और याज्ञिक क्रियाओं में अविश्वास करने वाले।

नाथसिद्धों की मान्यता है इनके संप्रदाय में किसी भी जाति, वर्ण या आश्रम का व्यक्ति दीक्षित हो सकता है अर्थात् दीक्षित होने पर योगी में जाति, वर्ण अथवा आश्रम का भेद नहीं रहता। योगी इन सब से परे होता है और वह ''अतिवर्णाश्रमी'' हो जाता है और इसी से उसे ''पंचमाश्रमी'' कहा आगे इसी संबंध में एक नाथ सिद्ध अमृतनाथ जी का कथन है कि–

''जाति, वर्ण, आश्रम नहीं, ऊँच–नीच का भेद।
अमृत एक स्वरूप है, साक्षी देते वेद।''

ब्रिग्स ने नाथ–योगियों को संन्यासियों के अन्तर्गत ही माना है और उनकी परंपरा उन्होंने प्राचीन शैव संन्यासियों, पाशुपतों आदि से निश्चित की है। यद्यपि ये नाथपंथी योगी पहले एक धार्मिक संप्रदाय के रूप में थे लेकिन बाद में ये एक सम्प्रदायगत जाति के रूप में विकसित हुए। माना जाता है कि ब्राह्मण वर्णाश्रम व्यवस्था से पृथक्कृत या हीन घोषित जातियाँ, उपजातियाँ इस अतिवर्णाश्रमी या पंचमाश्रमी संप्रदाय की अनुयायिनी हो गई होंगी। इस प्रकार यह संपूर्ण नाथ धर्मानुयायी समुदाय, नाथ धर्म मानने के कारण तथा गृहस्थ जीवन व्यतीत करने के कारण एक स्वतंत्र जाति बन गई। इस जाति को नाथ पंथी 'जोगी' या 'योगी' जाति भी कहते है।

नए समाज के निर्माण में नाथ संतों ने जिस मूल्य को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समझा वह था– ''मानव, मानव की समता, मानव ने किसी भी वर्ण, जाति, धर्म, सम्प्रदाय या प्रदेश में जन्म लिया हो, कुछ भी कर्म क्यों न करता हो ? इन सभी दृष्टियों से वैविध्य के रहते हुए भी वह मानवीय दृष्टि से समता का अधिकारी है। इतना ही नहीं, आर्थिक समृद्धि, प्रतिष्ठित पद एवं शिष्ट कुल में जन्म आदि भेदभाव का आधार स्वीकार नहीं किया। इस संबंध में अमृतनाथ जी ने समता की आवश्यकता पर कहा है कि इसके बिना काम नहीं चलने वाला है वे कहते है कि–

''अब जो कुछ हो जगत में, तबही उचित से जान।
महा निवृत्ति की स्थिति यही अमृत विज्ञान।''

मध्यकाल में निम्न वर्ग एवं अंत्यंज समझी जाने वाली जातियों की स्थिति अति दयनीय थी एवं समाज में छुआछूत एवं भेदभाव की भावना विद्यमान थी। फलतः अपनी हीन दशा के कारण अनेक जातियाँ इस्लाम के बढ़ते प्रभाव के कारण उसकी तरफ आकर्षित हुई। ऐसे संक्रमणकालीन समय में जब निम्न जाति के लोग स्वयं को धार्मिक दृष्टि से हीन समझ रहे थे तो तब नाथ सिद्धों ने उनको अपने नाथ संप्रदाय में आने के अवसर प्रदान किए गए, फलस्वरूप समाज में व्याप्त छुआछूत की भावना का ह्रास हुआ। जैसे– रानी रूपादे जो नाथ योगी उगमसी भाटी की शिष्या थी जिसने बालसखा चारू मेघवाल के साथ भक्ति का अलख जगाकर छुआछूत की भावना को दूर किया था। जिसका श्रेय नाथ सम्प्रदाय को जाता है।

नाथ योगी सिद्धों ने संस्कृत भाषा के स्थान पर जन–भाषाओं (क्षेत्रीय भाषाएँ) का उपयोग किया तथा ब्राह्मणिक कर्मकाण्डों, अनुष्ठानों और आंडम्बरों का विरोध किया एवं उनकी हंसी उड़ाते हुए अपनी योग और चमत्कृत करने वाली सिद्धियों के माध्यम से अधिकांश अपठित जनता को प्रभावित किया जिसके परिणामस्वरूप भारतीय समाज का निम्न समझे जाने वाला एक बहुत बड़ा वर्ग इसकी ओर आकर्षित हुआ।

निष्कर्ष एवं सुझाव

इस प्रकार हम देखते है कि भारतीय समाज में व्यवसाय एवं श्रम विभाजन के सिद्धान्त आदि के कारण विभिन्न जातियों का उदय एवं विकास हुआ परन्तु कालान्तर में इस जाति व्यवस्था में ऊँच–नीच की भावना आ गई और कुछ जातियों को अपवित्र मानकर अछूत घोषित कर दिया गया। पूर्व–मध्यकाल में नाथ सिद्ध योगियों का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने इस अछूत अवधारणा एवं अपवित्रता के सिद्धान्त को नकार दिया और मानव–मानव की समता पर जोर दिया। जिस से आकर्षित होकर बहुत से लोग विशेषकर निम्न वर्ग के लोग इन नाथ योगियों के अनुयायी बन गये और धीरे–धीरे ये लोग एक अलग जाति के रूप में संगठित हो गये। कुल मिलाकर नाथ योगियों ने भारतीय जाति व्यवस्था की कठोरता को निर्बल किया, छुआछूत की भावना को कमजोर किया तथा समता भाव और सामाजिक समन्वय को बढ़ावा दिया जो कि भारतीय समाज में नाथ सम्प्रदाय का अमूल्य योगदान है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. *जे.एच. हटन, कास्ट इन इंडिया, पृ. 9*
2. *रामशरण शर्मा, 'प्रारंभिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास', पृ. 45*
3. *रामशरण शर्मा, 'प्रारंभिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास', पृ. 46*
4. *रामशरण शर्मा, 'प्रारंभिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास', पृ. 54*
5. *झा एवं श्रीमाली, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. 125*
6. *जयशंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, अध्याय–5, पृ.सं. 143*
7. *डॉ. राजबली पांडेय, हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास, भाग प्रथम, पृ. 104–105*
8. *दत्त, ओरिजिन एण्ड ग्रोथ अव कास्ट इन इंडिया, पृ.सं. 3*
9. *डॉ. नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, गोरखनाथ नाथ सम्प्रदाय के परिप्रेक्ष्य में, पृ.सं. 57*
10. *दुर्गाप्रसाद त्रिवेदी, श्री विलक्षण अवधूत परमहंस श्री अमृतनाथ जी महाराज, पृ. 340*
11. *ब्रिग्स गोरखनाथ एंड कानफटा योगीज, पृ. 218*
12. *डॉ. वानुमती शर्मा एवं सांखला, राजस्थान का संत साहित्य, पृ.सं. 317*
13. *श्री दुर्गाप्रसाद द्विवेदी, श्री विलक्षण अवभूत परमहंस श्री अमृतनाथ जी महाराज, पृ.सं. 340*
14. *पेमाराम, मध्यकालीन राजस्थान के धार्मिक आंदोलन, पृ. सं. 26*
15. *अलवर के नाथ मठों में सभी सम्प्रदाय के लोगों को एकसा सम्मान दिया जाता है।*
16. *पेमाराम, राजस्थान में धर्म सम्प्रदाय एवं आस्थाएँ, पृ.सं. 215*